कषायजय-भावना

कषायजय-भावना

※ मूल लेखक ※

परम पूज्य श्रमणरत्न श्री कनककीर्ति जी महाराज

※ हिन्दी अनुवादक ※

परम पूज्य अचिन्त्य प्रज्ञाशक्तिधारक,
युवामुनि १०८ श्री सुविधिसागर जी महाराज

※ प्रथम वाचनाकार ※

पूज्य आर्यिका १०५ श्री सुविधिमती माताजी

तथा

पूज्य आर्यिका १०५ श्री सुयोगमती माताजी

※ सम्पादक ※

पण्डितप्रवर श्री ऋषभकुमार शास्त्री

नवापारा (राजिम)

कषायजय-भावना

अनुवादकाल :- मार्च-२००१

अनुवादस्थल :- नवापारा (राजिम)

प्रकाशनकाल :- जून-२००१

आवृत्ति क्रमांक :- एक

प्रति :- पाँच हजार

- प्रकाशक -

अनेकान्त श्रुत प्रकाशिनी संस्था

पुनर्प्रकाशन हेतु अर्थ सहयोग :- मात्र दस रुपये

:: प्राप्तिस्थान ::

भरतकुमार इन्दरचन्द पापड़ीवाल

एन-९, ए-११५, ४९/४,

शिवनेरी कॉलोनी, सिडको, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

☎ : (०२४०) ३८१०६१

ग्रंथ एवं ग्रंथकर्ता का परिचय

साधनापथ का पथिक आत्मा अपनी मोक्षमार्ग की यात्रा को निर्बाधगति से करना चाहता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र के पथ से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने वाले इस चेतन को कषायरूपी चोरों से सतत सावधान रहना चाहिये। लोक में एक बहुत ही सुन्दर उक्ति सुप्रसिद्ध है कि **सावधानी हटी और दुर्घटना घटी।** चेतन थोड़ा सा भी असावधान हो गया कि वे कषायरूपी चोर गुणों की पूंजी को लूट कर उसे पथभ्रष्ट कर देते हैं।

कषायों को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री शुभचन्द्र देव पाण्डव -पुराण में लिखते हैं -

कषन्ति सद् गुणान्सर्वान् जीवानां बुद्धिशालीनाम् ।
कषायास्ते मतात्यज्यैस्त्याज्या मोक्षसुखाप्तये।।

अर्थात् - जो जीवों के समीचीन गुणों को कसती है, बाँध देती है, उसे कषाय कहते हैं। मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए बुद्धिमान जीवों को कषायों का त्याग कर देना चाहिये।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कषायों को परिभाषित करते हुए लिखते हैं -

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति।।

(जीवकाण्ड -११/२८२)

अर्थात् - जिसकारण से संसारी जीव के ज्ञानावरण आदि अनेक शुभ और अशुभ कर्मरूप धान्य के उत्पन्न होने की भूमि को जो जोतती है, उन्हें गणधर देव कषाय कहते हैं।

कषाय शब्द की उत्पत्ति **कृषि विलेखने** धातु से हुई है। कृष धातु का प्रयोग कमजोर करना अथवा घात करना आदि अर्थों में भी होता है। अतः आचार्य श्री नेमिचन्द्र देव निरुक्ति को स्पष्टरूप से अभिव्यक्त करते

हुए कहते हैं - जो सम्यग्दर्शन, देशसंयम, सकलचारित्र और यथाख्यात चारित्र रूप आत्मा के विशुद्ध परिणामों को कसती हैं अर्थात् घातती है उसे कषाय कहते हैं।

कषायों की मुख्य चार जातियाँ हैं -अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन।

जो कषायें अनन्त संसार को बढ़ाती हैं, उन्हें अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

जो कषायें अणुव्रतों का घात करती हैं, उन्हें अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

जो कषायें सकलसंयम अर्थात् मुनियों के व्रतों का घात करती हैं, उन्हें प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

जो कषायें यथाख्यात चारित्र का घात करती हैं, उन्हें संज्वलन कषाय कहते हैं। अथवा सं यानि समीचीन, जो विशुद्ध संयम को जलाती हैं, उन्हें संज्वलन कषाय कहते हैं।

संसार की जड़ कषाय हैं। कषाय अत्यन्त दुर्जय शत्रु है। कषाय सम्पूर्ण बुराइयों का घर है। कषाय पापों के जनक हैं। हिंसा आदि पाप कषायों के आवेश में ही होते हैं। कषाय मनुष्य के स्वभाव में आये हुए ऐसे मनोविकार हैं, जो निरन्तर मनुष्य की मानसिक एवं शारीरिक योग्यताओं का विनाश किया करते हैं। आधुनिक तत्त्वचिन्तकों ने कषायों को मानसिक विष की उपमा दी है। जिसप्रकार विष का सेवन करने पर प्राणों की हानि होती है, उसीप्रकार कषायविष का सेवन करने पर विवेक, बुद्धि और स्वास्थ्य आदि का विनाश होता है। कषायों के सद्भाव में मनुष्य अपनी आत्मोन्नति नहीं कर सकता।

मन में उठने वाली कषायों की लहरें मुख्यरूप से शारीरिक स्वास्थ्य का विघात करने वाली हैं। कषायों के कारण स्नायुसंस्थान पर तीव्र आघात पैदा होता है, रक्तचाप बढ़ जाता है, पेशियाँ तन जाती हैं, मनोवेग प्रबल हो जाते हैं और पाचनक्रिया की गड़बड़ी, अनिद्रा तथा दुर्बलता आदि रोगों का सामना करना पड़ता है। आयुर्वेद के विज्ञानी जानते हैं कि स्वस्थ शरीर में

ही स्वस्थ मन का निवास होता है। जब शरीर रोगों का घर बनता है तब मनुष्य अपना मानसिक सन्तुलन भी खो देता है। कषायों के द्वारा उत्तेजित हुए मनुष्य की मनःस्थिति विक्षुब्ध हो जाती है। इससे विचारशक्ति का ह्रास हो जाता है। फलतः मनुष्य अच्छे और बुरे का निर्णय नहीं कर पाता। कषायावेग में मनुष्य के मन में जैसी भी सनक उठ जाती है, वह वैसा ही कार्य कर बैठता है। हत्याएँ, आत्महत्याओं, कई उपद्रवों और दुर्घटनाओं का प्रमुख कारण कषायों के द्वारा उद्विग्न हुई मनोभूमि ही होती है।

आगम के मतानुसार यदि कषायों पर विजय प्राप्त कर ली है, तो साधना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है और यदि कषायों पर विजय प्राप्त न कर पाये तो अनेकों वर्षों तक की हुई सारी तपश्चर्या व्यर्थ है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री शुभचन्द्र जी ने लिखा है -

यदि क्रोधादयः क्षीणास्तदा किं खिद्यते वृथा।
तपोभिरथ तिष्ठन्ति तपस्तत्राप्यपार्थकम् ।।

(ज्ञानार्णव- १९/७६)

अर्थात् - यदि क्रोधादि कषायों का क्षय हो गया है तो तप करना व्यर्थ है और यदि क्रोधादि कषायों का क्षय नहीं हुआ है तो तप करना व्यर्थ है।

आगम ग्रंथों में कषायों की हानि को प्रदर्शित करते हुए आचार्यों ने उसके तीव्रतर आदि चार भेद किये हैं। इनसे क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति की प्राप्ति होती है।

यतिवृषभ आचार्य के मतानुसार नरकगति में उत्पन्न हुए जीव के प्रथम समय में क्रोध कषाय का, तिर्यंचगति में उत्पन्न हुए जीव के प्रथम समय में माया कषाय का, मनुष्यगति में उत्पन्न हुए जीव के प्रथम समय में मान कषाय का और देवगति में उत्पन्न हुए जीव के प्रथम समय में लोभ कषाय का उदय होता है। भूतबलि आचार्य के मतानुसार उपर्युक्त नियम नहीं है। उनका आशय है कि किसी भी गति के जीव को प्रथम समय में किसी भी कषाय का उदय हो सकता है।

आगम में कषायों के स्वभाव, फल और वासनाकाल का जो वर्णन पाया जाता है, उसे निम्नलिखित नक्शे के द्वारा समझना आसान होगा।

कषायों का वर्णन

क्रम	कषाय	स्वभाव	फल	काल
१-	अनन्तानुबन्धी क्रोध	शिलाभेद	नरकगति	अनन्तकाल
२-	अनन्तानुबन्धी मान	शैल	नरकगति	अनन्तकाल
३-	अनन्तानुबन्धी माया	बाँस की जड़	नरकगति	अनन्तकाल
४-	अनन्तानुबन्धी लोभ	कृमिराग	नरकगति	अनन्तकाल
५-	अप्रत्याख्यानावरणक्रोध	पृथ्वीभेद	तिर्यंचगति	छह माह
६-	अप्रत्याख्यानावरणमान	अस्थि	तिर्यंचगति	छह माह
७-	अप्रत्याख्यानावरणमाया	मेषशृंग	तिर्यंचगति	छह माह
८-	अप्रत्याख्यानावरणलोभ	चक्रमल	तिर्यंचगति	छह माह
९-	प्रत्याख्यानावरण क्रोध	धूलीरेखा	मनुष्यगति	पन्द्रह दिन
१०-	प्रत्याख्यानावरण मान	काष्ठ	मनुष्यगति	पन्द्रह दिन
११-	प्रत्याख्यानावरण माया	गोमूत्र	मनुष्यगति	पन्द्रह दिन
१२-	प्रत्याख्यानावरण लोभ	कीचड़	मनुष्यगति	पन्द्रह दिन
१३-	संज्वलन क्रोध	जलरेखा	देवगति	अन्तर्मुहूर्त
१४-	संज्वलन मान	बेंत	देवगति	अन्तर्मुहूर्त
१५-	संज्वलन माया	खुरपा	देवगति	अन्तर्मुहूर्त
१६-	संज्वलन लोभ	हल्दी का रंग	देवगति	अन्तर्मुहूर्त

कषाय स्थितिबन्ध एवं अनुभागबन्ध का कारण है। अतः कषायों का अभाव किये बिना संसार का अभाव होना संभव नहीं है। साधक जीव कषायों के दुष्फलों का बार-बार चिन्तन करके ही कषायों से बच सकता है। साधक शिष्यों को कषायों के दुष्फल से परिचित कराने के लिए ही इस ग्रंथ का प्रणयन हुआ है। उपदेशात्मक दृष्टान्तशैली के कारण यह ग्रंथ सर्वजनोपयोगी है।

मूल ग्रंथकर्ता - इस ग्रंथ के रचयिता मुनि श्री कनककीर्ति जी महाराज है। ग्रंथान्त में उन्होंने अपना यही नाम दिया है। यथा-

इति कनककीर्तिमुनिना कषायजयभावना प्रयत्नेन ।
भव्यजनचित्तशुद्ध्यै विनयेन समासतो रचिता ।।४१।।

अर्थ - इसप्रकार कनककीर्ति मुनि के द्वारा बड़े ही प्रयत्न से भव्य जीवों की चित्तशुद्धि के लिए कषायजय-भावना ग्रंथ की संक्षेप से रचना की गई है।

मूल ग्रंथ की पाण्डुलिपि कानड़ी भाषा में है। अतः मेरा अनुमान है कि इस ग्रंथ की रचना दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त में ही हुई होगी। कनककीर्ति महाराज का नाम स्वाध्यायप्रेमियों में भी अपरिचित-सा है। यही कारण है कि मुझे उनका परिचय प्राप्त नहीं हो सका।

ग्रंथ की भाषा - ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखा हुआ है। यद्यपि संस्कृत परिष्कृत भाषा होने से अत्यन्त कठिन भाषा है तथापि इस ग्रंथ में भाषिक कठिनता का अनुभव नहीं होता। इस लघुकाय ग्रंथ में दृष्टान्त शैली का भी पूर्ण प्रयोग किया गया है। भावना ग्रंथ में होने वाली साहजिकता इस ग्रंथ में पायी जाती है। पठन और पाठन की दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यन्त सरल है।

मैं कोई उच्चकोटि का भाषाविद्वान नहीं हूँ। मुझमें आगम का तलस्पर्शी ज्ञान भी नहीं है। केवल अपने आवश्यकों की परिपालना हेतु स्वाध्याय करने के क्रम में संघस्थ दोनों माताजी को पढ़ाने के लिए ही इस अनुवाद का कार्य किया था। दोनों माताजी के आग्रहवश ही इसका प्रकाशन हो रहा है। कृति में किसी भी प्रकार की त्रुटि रह गयी हो तो पूज्य साधुवर्ग और श्रेष्ठ विद्वद्वर्ग उसे संशोधित करने का कष्ट करें।

इस ग्रंथ को पढ़कर एक भी साधक कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए उद्यत हो जाय, तो मेरा श्रम सार्थक हो जायेगा।

अन्त में समस्त सहयोगियों को आशीर्वाद।

मुनि सुविधिसागर

दो शब्द

जैन सिद्धान्त भवन - आरा (बिहार) साहित्यप्रेमियों के लिए सुपरिचित नाम है। प्रकाशित ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक अप्रकाशित दुर्लभ पाण्डुलिपियों के दर्शन उस स्थान पर होते हैं। हमें आरा चातुर्मास के समय जिनवाणी के इस महाभण्डार के अनेक बार दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। एकबार हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का अवलोकन करते हुए हमें **कषायजय-भावना** नामक ग्रंथ की एक प्रति प्राप्त हुई। ग्रंथ कानड़ी भाषा में था। कानड़ी भाषा पढ़ने में हमारी असमर्थता से मन खिन्न हो गया।

जैन सिद्धान्त भवन से ही एक शोधपत्रिका प्रकाशित होती है। उसके एक अंक में हमें पण्डितप्रवर श्री नेमिचन्द्र जी के द्वारा अनुवादित **कषायजय-भावना** देखने को मिली। पण्डित जी ने मात्र ग्रंथ का भावार्थ करते हुए अनुवाद किया है। संघ में इसका स्वाध्याय हुआ। ग्रंथ अत्यन्त छोटा किन्तु मूल्यवान है। अतः हमने गुरुदेव से इस ग्रंथ का अनुवाद करने की प्रार्थना की। गुरुदेव ने हमारी प्रार्थना को स्वीकार करके अपने पवित्र करकमलों द्वारा इस कृति को सर्वजनग्राह्य बनाया। गुरुदेव के इस विशेष आशीर्वाद से हम कृतार्थता का अनुभव कर रहे हैं।

यह कृति मोक्षमार्ग पर अनुगमन करने वाले जीवों को विशेष रूप से आनन्दित करेगी, ऐसा हमें विश्वास है। जिन लोगों ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहयोग प्रदान किया है, उन सभी लोगों को हमारा आशीर्वाद। " **अनेकान्त श्रुत प्रकाशिनी संस्था** " जो कि मुनिश्री के द्वारा लिखी हुई लोकोपयोगी रचनाओं को घर-घर में पहुँचाने का कार्य कर रही है, उसके समस्त मानद सदस्यों को हमारा आशीर्वाद।

आओ, अब हम जिनवाणी के अमृत का रसास्वादन करें।

आर्यिका सुविधिमती
और
आर्यिका सुयोगमती

मुनि श्री कनककीर्ति विरचित

कषायजय-भावना

येन कषाय चतुष्कं ध्वस्तं संसारदुःखतरुबीजम् ।
प्रणिपत्य तं जिनेन्द्रं कषायजय-भावना वक्ष्ये ।।१।।

अर्थ - जिसने संसार के दुःखरूपी तरु के बीज कषाय-चतुष्कों को ध्वस्त कर दिया है, उस जिनेन्द्र प्रभु को नमस्कार करके मैं कषायजय-भावना का कथन करूंगा।

भावार्थ - जो विजेता हैं, वे जिन हैं। **रागद्वेषादि अरिन् जयतीति जिनः।** जिन्होंने राग-द्वेष आदि शत्रुओं को जीत लिया है, वे जिन हैं। जिनेन्द्र प्रभु ने क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों को नष्ट कर दिया है। ग्रंथकर्ता ने जिनेन्द्र प्रभु को नमस्कार करके कषायजय-भावना नामक ग्रंथ की रचना करने का संकल्प किया है।

क्रोध का फल

कोपी नाशयति क्षणेन विपुलां सत्सञ्चितां सम्पदम्।
कोपी च त्यजति द्रुतं प्रणयिनीं भार्यां स्वकीयामपि।।
कोपी पुण्य जनोचितान् सुखकरान् ....।
प्रायः कोप वशस्त्यजेत्तृणमिव स्वं जीवितव्यम् जनः।।२।।

अर्थ- क्रोधी मनुष्य संचित विपुल संपदा का क्षणमात्र में विनाश कर देता है। क्रोधी मनुष्य स्वकीय (अपनी) प्रणयिनी (प्राणप्रिय) पत्नी को भी शीघ्र छोड़ देता है। क्रोधी मनुष्य पुण्यजनोचित सुखकर------।

क्रोध के वशीभूत हुआ क्रोधी मनुष्य तृण के समान अपने जीवितव्य को भी छोड़ देता है।

भावार्थ - क्रोध क्षणिक पागलपन है। इसके आवेश में मनुष्य अपने विवेकशक्ति को खो देता है। जब विवेक का साथ छूट जाता है, तब मनुष्य अकरणीय कार्यों को भी करने लगता है। क्रोध के वशीभूत हुआ मनुष्य अपने धन का विनाश कराता है। अपनी धर्मपत्नी को छोड़ देता है। जो कार्य आत्मा के लिए सुखकर होते है, उनका त्याग कर देता है। क्रोध की तीव्रता मानव को इतना अन्धा बना देती है कि कभी-कभी उसके आवेश में मनुष्य आत्महत्या तक कर लेता है।

भ्रूभङ्गभङ्गुरितभीमललाटपट्टं,
रक्तं विरूपमपि कञ्चन सर्वगात्रम् ।
प्रप्रस्खलद्वचनमुद्गतलोलदृष्टिं,
कोपः करोति मदिरेव जनं विचेष्टम् ।।३।।

अर्थ - क्रोध का उदय होने पर मनुष्य की भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं। ललाट भयंकर हो जाता है। सम्पूर्ण शरीर लाल एवं कुरूप हो जाता है। वचन स्खलित होने लगते हैं और दृष्टि चंचल हो जाती है। क्रोध मनुष्य को मदिरा के समान निश्चेष्ट बना देता है।

भावार्थ - इस श्लोक में क्रोध को मदिरा के समान उन्मत्त बनाने वाला कहा गया है, क्योंकि मदिरा का पान करने पर मनुष्य के मन, वचन और शरीर पर अनेक प्रकार का विकृत प्रभाव पड़ता है। मन विचार करने में असमर्थ हो जाता है। वचन अस्थिर हो जाते हैं। ललाट लालवर्ण का हो जाता है, मुख भयंकर दिखने लगता है। शरीर में कम्पन उत्पन्न होने लगता है तथा वह मनुष्य कुरूप-सा लगने लगता है। जो कार्य मनुष्य शराब पीने के पश्चात् करता है, वे ही कार्य क्रोध के आवेश में भी करता है। अतः क्रियाओं की अपेक्षा से मद्यपायी और क्रोधी व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है।

नो संवृणोति परिधानमपि स्वकीयं ,
भाण्डानि चूर्णयति हन्ति शिशून् प्रदुष्टः।
स्वात्म्यं परं परिभवत्यपि मुक्तकेशः,
कोपी पिशाचसदृशं स्वकमातनोति ।।४।।

अर्थ - क्रोध का उदय होने पर मनुष्य अपने वस्त्रों को नहीं सम्हाल पाता है। बर्तनों को तोड़ता है। बच्चों को मारता है। अपने केशों को खोल देता है। अपना तथा दूसरों का अनादर करता है। इसप्रकार क्रोधी स्वयं को पिशाच के समान बना लेता है।

भावार्थ - क्रोध का उदय होने पर मनुष्य पिशाच से ग्रस्त हुए पुरुष के समान आचरण करने लगता है। जैसे पिशाचग्रस्त पुरुष अपने वस्त्रों को नहीं सम्हाल पाता, हाथों में आयी हुई वस्तुओं को निर्दयतापूर्वक क्षति पहुँचाने लगता है, बच्चों को पीटने लगता है, बालों को खोल देता है अथवा अपना तथा दूसरों का अपमान करने लगता है, उसीप्रकार क्रोधी मनुष्य की चेष्टाएँ होती है।

कोपेन कश्चिदपरं ननु हन्तुकाम,
तप्तायसं स परिगृह्य करेण मूढः ।
स्वंनिर्दहत्यपरमत्र विकल्पनीयं,
किं वा विडम्बनमसौ न करोति कोपः ।।५।।

अर्थ - क्रोध के कारण किसी दूसरे को मारने की इच्छा करता हुआ वह मूर्ख मनुष्य तपे हुए लोहे को अपने हाथों में ले कर स्वयं को जलाता है कि अन्य को यह विचारणीय है। यह क्रोध कौन-कौन सी विडम्बनाओं को नहीं करता है ? अर्थात् सभी विडम्बनाओं को करता है।

भावार्थ - क्रोध के कारण मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है। क्रोध में उसे अपने भले बुरे का ज्ञान नहीं होता। वह ऐसा मानता है कि मैं दूसरों को

हानि पहुँचा रहा हूँ। दूसरों को हानि होगी या लाभ ? यह सब अपने-अपने कर्मों के उदयादि पर निर्भर होता है। कोई एक व्यक्ति किसी दूसरे को हानि या लाभ नहीं पहुँचा सकता। किसी दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए क्रोध करना मानो दूसरों को मारने के लिए अपने हाथ में तपाया हुआ लोहा लेने के समान है। जैसे तपाया हुआ लोहा हाथों में लेकर दूसरे को मारने के लिए तत्पर हुआ मनुष्य दूसरों को मार पाये या न मार पाये किन्तु स्वयं के हाथ जला ही लेता है। उसीप्रकार क्रोधी मनुष्य दूसरों को हानि पहुँचा पाये या न पहुँचा पाये स्वयं की हानि कर ही लेता है।

न स्वामिनं न नृपतिं न गुरुं न मित्रं,
नो मातरं न भगिनीं न च बन्धुलोकम् ।
नो मन्यते प्रणयिनीमपि हन्तुकामो,
ह्यात्मं च शत्रुसदृशं विदधाति कोपी ।।६।।

अर्थ - क्रोधी व्यक्ति दूसरों को मारने की इच्छा करता हुआ स्वामी, राजा, गुरु, मित्र, माता, बहिन, बन्धुजन तथा पत्नी को भी नहीं मानता है। वह स्वयं को शत्रु के समान बना लेता है।

भावार्थ - क्रोध के आवेग में मनुष्य अन्धा हो जाता है। उसे अपने आराध्य अथवा अपने आश्रितों की मर्यादाओं का ध्यान नहीं रहता। क्रोध एक ऐसा तीव्र आवेग है कि उसके आते ही विवेक समाप्त हो ही जाता है और मुँह खुल जाता है। क्रोध के आवेश में क्रोधी मनुष्य अपने स्वजनों का अपमान करता है। वह परिणाम का विचार किये बिना ही यद्वा-तद्वा बोल देता है। अपमानित हुए स्वजन क्रोधी व्यक्ति से बात तक करना पसंद नहीं करते। क्रोधी व्यक्ति अपने स्वभाव से लाचार होकर कहीं हमारी अवहेलना न कर दे, ऐसा सोचकर लोग उससे दूर रहने में ही अपना भला समझते हैं। फलतः क्रोधी व्यक्ति परिवार में उपेक्षित हो जाता है। क्रोधी व्यक्ति का कोई भी अपना नहीं होता है। इसलिए उसके जीवन में नितान्त अकेलापन होता है। यह अकेलापन उसे विक्षिप्त भी बना सकता है।

चित्तेन चिन्तयति यद्यदचिन्तनीयं,
वक्त्रेण जल्पति च यद्यदभाषणीयम् ।
तद्वाकरोति ननु यन्न करोति वैरी,
मन्ये सदा भवति दुर्जनवत्स कोपः ।।७।।

अर्थ - क्रोधी मनुष्य जिसका चिन्तन नहीं करना चाहिये, उसका भी चिन्तन करता है। अभाषणीय वचनों को मुख से बोलता है। जिस कार्य को शत्रु भी नहीं करता है, उस कार्य को क्रोधी मनुष्य करता है। क्रोधी व्यक्ति सदा दुष्ट के समान होता है।

भावार्थ - क्रोध के कारण मनुष्य अचिन्तनीय विषयों का चिन्तन करने लगता है। जो वचन शिष्ट समाज में निषिद्ध समझे जाते हैं, ऐसे गाली आदि कुवचन बोलता है। क्रोध के वशीभूत हुआ मनुष्य जिन कार्यों को शत्रु भी नहीं करते, ऐसे आत्मा के अहितकर कार्यों को करता है।

नीतिकार लिखते हैं-

क्रोधमूलं मनस्तापः, क्रोधः संसारवर्धनम् ।
धर्मक्षयंकरं क्रोधः, तस्मात्क्रोधं परित्यजेत् ।।

अर्थात् - क्रोध मन को संतप्त करता है। क्रोध संसार का वर्धन करता है। क्रोध धर्म का क्षय करता है। इसलिए क्रोध का परित्याग कर देना चाहिये।

क्रोधी व्यक्ति की समस्त क्रियाएँ दुष्टों के समान होती है। जैसे दुष्ट व्यक्ति की क्रियाएँ स्व और पर का अहित करतीं हैं, उसीप्रकार क्रोधी की क्रियाएँ स्व और पर का अहित करने वाली होतीं हैं।

दानं न पूजां न तपो न शीलं,
स्वाध्याय मौनं व्रतधारणं च ।
कोपाग्निसंतापितमानसस्य ,
परे गुणाः केऽपि न सन्ति तस्य ।।८।।

अर्थ - क्रोध की अग्नि से संतप्त हृदय वाला न दान देता है, न पूजा करता है, न शील का पालन करता है, न स्वाध्याय करता है, न मौन धारण करता है और न व्रतों को धारण करता है। इनके अतिरिक्त भी उसके कोई गुण नहीं होते हैं।

भावार्थ - क्रोध सब से बड़ा दुर्गुण है। इसके होने पर सारे व्रत, तप और ज्ञानादिक गुण निरर्थक हो जाते हैं। संतप्त हृदय वाले मनुष्य की सम्पूर्ण साधना फलीभूत नहीं होती।

क्रोध के दुष्परिणामों को प्रकट करते हुए आचार्य श्री सोमप्रभ लिखते हैं-

फलति कलित श्रेयः श्रेणीप्रसूनपरम्परः।
प्रशमपयसा सिक्तो मुक्तिं तपश्चरणद्रुमः।।
यदि पुनरसौ प्रत्यासत्तिं प्रकोपहविर्भुजो।
भजति लभते भस्मीभावं तदा विफलोदयः।।

अर्थात् - शान्त परिणाम रूपी जल से अभिसिंचित तपश्चरण रूपी वृक्ष अनेक पुण्य समूह रूपी पंक्तियों से शोभायमान होता हुआ मुक्तिफल को फलता है। यदि वह तपोवृक्ष क्रोध रूपी अग्नि की निकटता को प्राप्त हो जाय, तो फिर बिना फल दिये ही दग्ध हो जाता है।

नीतिकारों का मानना है कि **अजीर्णः तपसः क्रोधः** क्रोध तपस्या का अजीर्ण है। क्रोध वृत्तियों को अशान्त करके साधना को भ्रष्ट कर देता है। क्रोध मनुष्य के सर्वनाश का एकमात्र संकेत है। आध्यात्मिक जीवन के लिए क्रोध भयंकर विष है। प्रेम, सत्य, न्याय, मैत्री आदि जीवन विकासक गुणों को क्रोध क्षणमात्र में भस्म कर देता है।

कोपी न शेते, न सुखेन भुड्.क्ते,
परस्य दुःखं सततं समिच्छन्।
प्रजल्पितै र्वा बहुभिः किमत्र,
कोपो नृणां मूलमनर्थ राशेः ।।१।।

अर्थ - क्रोधी मनुष्य दूसरों को दुःखी करने की इच्छा से सुखपूर्वक न सोता है, न खाता है। अधिक क्या कहें ? क्रोध मनुष्यों के लिए अनर्थों की जड़ है।

भावार्थ - क्रोध स्व और पर का घात करने वाली प्रवृत्ति है। यह भव-भवान्तरों में वैर को कायम करने वाला है। दूसरों को दुःखी करने की भावना क्रोधी मनुष्य में इतनी तीव्र होती है कि उस क्रोधाग्नि के कारण वह न तो सुखपूर्वक सो सकता है, न खा सकता है। क्रोध सम्पूर्ण अनर्थों की परम्परा का जनक है।

विमुक्तिकान्तासुखसाधकं यत् ,
सम्मार्जितम् चारुचरित्रमुद्घम्।
कोपाग्निना तत्परिदह्य सर्वं ,
द्वीपायनः संसृतिमध्युवास ।।१०।।

अर्थ - मुक्ति रूपी कान्ता के सुख का साधक, सुन्दर और पवित्र चारित्र को क्रोध रूपी अग्नि में जला कर द्वीपायन मुनि संसार में ही रहे।
भावार्थ - क्रोध की भीषण ज्वाला में द्वीपायन मुनि ने अपने सारे तप को जला दिया था, जिसके कारण उन्हें संसार में ही रहना पड़ा।

द्वीपायन मुनि की कथा

एकबार बलभद्र ने भगवान नेमिनाथ से पूछा " हे नाथ! इस द्वारिका नगरी का विनाश किसप्रकार होगा ?" भगवान ने कहा- " रोहिणी का भाई द्वीपायनकुमार जो कि तुम्हारा मामा है, उसके क्रोध से यह नगरी बारहवें वर्ष में जल कर भस्म हो जायेगी। यह सब मदिरा के कारण होगा।" इन वचनों को सुनकर दुःखी हुआ है मन जिसका ऐसे द्वीपायन ने मुनि-दीक्षा धारण करके पूर्वदिशा की ओर विहार किया।

मदिरा के कारण इस नगर का विनाश होगा ऐसा जान लेने के कारण कृष्ण ने द्वारिका नगरी में मद्यनिषेध की घोषणा करवाई। मदिरा

और मदिरा बनाने के साधनों को कदम्ब वन की एक गुफा में फेंक दिया गया। दुर्भाग्यवशात् वह फेंकी हुई मदिरा कुण्डों में संचित हो कर रह गयी।

इधर द्वीपायन मुनि अधिक मास का ध्यान न रहने से बारहवाँ वर्ष पूर्ण हो चुका है, ऐसा मान कर द्वारिका के निकट आ गये। वे नगर के बाहर पर्वत के निकट मार्ग में आतापन योग धारण करके स्थित हो गये।

उसी दिन वनक्रीड़ा के कारण थके हुए तथा प्यास से पीड़ित शंभव आदि कुमारों ने यह जल है ऐसा जानकर कदम्ब वन में फेंकी हुई मदिरा को पी लिया। वे सब कुमार नशे के कारण असम्बद्ध बड़बड़ाते हुए नगर की ओर आ रहे थे। उससमय उनकी दृष्टि आतापन योग में स्थित द्वीपायन मुनि पर गयी। ये वही द्वीपायन हैं, जिनके कारण हमारी नगरी का नाश होगा ऐसा विचार कर मत्त कुमारों ने मुनिराज को पत्थरों से मारना प्रारंभ किया। वे मुनिराज को तबतक मारते रहे, जबतक कि वे गिर न पड़े। लोगों ने यह सूचना बलभद्र और श्रीकृष्ण को दी। सूचना को सुनकर उन्होंने उसीसमय मान लिया कि द्वारिका का प्रलयकाल आ चुका है। फिर भी वे मुनिराज के समीप गये। विनयपूर्वक उन्होंने याचना की। उन्होंने कहा " हे मुने ! चिरकाल से जिसकी आपने रक्षा की है, क्षमा ही जिसकी जड़ है, जो मोक्ष का साधन है ऐसे तप की आप रक्षा कीजिये। मूर्ख कुमारों ने जो अपराध किया है, उन्हें क्षमा प्रदान कर दीजिये।" कृष्ण और बलराम के अनेक बार निवेदन करने पर भी मुनिराज का क्रोध शान्त नहीं हुआ। जिनके नेत्र लाल हो रहे थे, जिनका मुख विषम हो रहा था ऐसे मुनिराज ने दो अंगुलियाँ उठा कर संकेत किया कि मात्र तुम दोनों को नहीं जलाऊंगा। "इनका क्रोध दूर करना संभव नहीं है " ऐसा जानकर कृष्णादिक नगर में आये। द्वारिका भस्म होगी ऐसा जानकर अनेक लोगों ने दीक्षा ग्रहण कर नगर का त्याग कर दिया। द्वीपायन मुनि क्रोधसहित मरकर अग्निकुमार जाति के भवनवासी देव हुए। विभंगावधि ज्ञान के द्वारा पूर्व वैर का स्मरण करके उन्होंने द्वारिका को भस्म कर दिया।

तात्पर्य यह है कि महातपस्वी द्वीपायन मुनि को घोर तप करने के कारण मोक्ष प्राप्त होना चाहिये था परन्तु वे क्रोध के कारण भवनवासी देव बने। अतः क्रोध का पूर्णतः त्याग कर देना चाहिये।

मान का फल

जातिर्मे विपुला कुलं सुविपुलं रूपं जगत्सुन्दरं,
बुद्धिस्तीक्ष्णतरा व्रतं समधिकं लोकातिगं वैभवम् ।
विज्ञानं जनचित्रकारि सुतपश्चेतश्चमत्कारि मे,
स्वस्याधः स्थितमित्ययं जगदिदं मानी सदा मन्यते ।।११।।

अर्थ - मेरी जाति और कुल बड़ा है। मेरा रूप संसार में सब से अधिक सुन्दर है। मेरी बुद्धि तीक्ष्णतर है। मैं सब से बड़ा व्रती हूँ। मुझमें आश्चर्यकारी ज्ञान है। मैं चमत्कारी तप करता हूँ। यह सारा संसार मुझसे नीचा है। मानी व्यक्ति सदैव ऐसा मानता है।

भावार्थ - अभिमान के भँवर में फँसा हुआ मूढ़ मनुष्य जगत में अपने को सर्वश्रेष्ठ मानता है। अपने कुल, जाति, रूप, तप या ज्ञान की श्रेष्ठता का उसे बहुत अहंकार होता है। उसी अहंकार के मद से मत्त होकर वह सज्जनों का अपमान भी कर देता है।

भवभयहरं शान्तं धीरं जिनं न विलोकते।
न खलु सुखदं पूतं धर्मं कुधी रोगे विगाहते ।।
हितमपि गुरोः सत्यं वाक्यं नरो न समीहते।
कथमपि निजं मानं मानी न जातु विमुञ्चति ।।१२।।

अर्थ - मानी व्यक्ति संसार के भय का विनाश करने वाले शान्त एवं धीर जिनेन्द्र के दर्शन नहीं करता है। कुबुद्धि रूपी रोग में फँसा हुआ मानी सुख देने वाले पवित्र धर्म को धारण नहीं करता है। वह गुरु के हितकारी एवं सत्य वचनों को भी नहीं चाहता है। मानी अपना मान किसी भी तरह नहीं छोड़ पाता है।

भावार्थ - इस संसार में आत्महितकारी निमित्तों में देव, शास्त्र और गुरु

सर्वप्रमुख हैं। साधक इन तीनों का हस्तावलम्बन लेकर अपनी आत्मशक्ति का विकास करता है। अहंकारी मनुष्य अपने को परिपूर्ण मानता है। अतः वह भवभय का हरण करने वाले जिनेन्द्र देव के दर्शन नहीं करता, शाश्वत सुख प्रदान करने वाले धर्म को धारण नहीं करता तथा सद् गुरुओं के हितकारी वचनों का श्रवण नहीं करता। इसीलिए अभिमानी मनुष्य का कल्याण नहीं हो पाता।

न तदरिरतिरुष्टः केसरी नो हुताशो ।
न च जनयति दुःखं भक्षितं कालकूटम् ।।
विषमपि विषधरोऽहिस्तन्नयेद्देहिनोऽस्य ।
जनयति बहुदुःखं मान एवातिदीर्घम् ।।१३।।

अर्थ - जैसे शत्रु से कुपित हुआ सिंह आग को नहीं देखता है। खाये गये विष में भी दुःख का अनुभव नहीं करता है। सर्प के विष की तरह यह मान प्राणियों को अत्यधिक दुःख उत्पन्न करता है।

भावार्थ - इस लोक में अभिमान कितना भयंकर होता है, उसका चित्रण करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि कुपित हुआ सिंह, खाया गया विष और भयंकर सर्प भी मनुष्य की जितनी हानि नहीं करता उससे अधिक हानि मान के कारण होती है।

न भोजयत्यपरमात्मगृहे कदाचिन् ।
नैव स्वयं परगृहे भणितोऽपि भुङ्.क्ते ।।
मानी मदज्वरसमाकुलचित्तवृत्तिः ।
नो वक्ति भाषयति कश्चन मोहितात्मा ।।१४।।

अर्थ - मानी पुरुष दूसरों को अपने घर पर कभी भोजन नहीं कराता है, कहने पर भी कभी किसी के घर नहीं खाता है। मद के ज्वर से आकुलित

चित्त वाला मानी मोहित होकर किसी से बात तक नहीं करता है।

भावार्थ - इस लोक में मानी पुरुष की प्रवृत्ति कैसी होती है ? उसका वर्णन किया गया है। संसार में तनाव से बचने के लिए मित्रों के सहयोग की आवश्यकता होती है। मैत्री को कायम रखने के लिए प्रेम से बातें करना, भोजन करना, भोजन कराना आदि अनेक उपाय होते हैं। ये कार्य सामाजिक सौहार्द्र को निर्मित करते हैं। अहंकारी मान के कारण न किसी के यहाँ भोजन करता है, न किसी को अपने यहाँ भोजन कराता है। अहंकार से ग्रस्त होकर वह किसी से ठीक-से बात तक नहीं करता है।

विद्यां न कीर्तियशसी न तपो न मैत्रीं ।
नो सम्पदं न विभुतां न च मन्त्रतन्त्रम् ।।
लोकद्वयेऽपि सुखमन्यदपि प्रशस्तं।
स्वं वाञ्छितं हि लभते न कदापि मानी ।।१५।।

अर्थ - मानी पुरुष दोनों ही लोकों में विद्या, कीर्ति, यश, तप, मैत्री, सम्पदा, प्रभुता, मंत्र, तंत्र तथा अन्य सुखों को भी प्राप्त नहीं करता है।

भावार्थ - इस सृष्टि का एक नियम है कि कुछ भी प्राप्त करने के लिए नम्रता को अंगीकार (स्वीकार) करना पड़ता है। श्रेष्ठत्व के भ्रम में भ्रमित हुआ अहंकारी मनुष्य **मैं सबकुछ जानता हूँ** ऐसी भ्रमभरी मान्यता के कारण कुछ सीख नहीं पाता। यही कारण है कि अहंकारी व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। मानी कीर्ति, यश, तप, मैत्री, सम्पदा, प्रभुता, मंत्र, तंत्र तथा अन्य सुखों को भी प्राप्त नहीं कर सकता है।

दुरन्त-संसार-समुद्र-तारकं।
प्रपन्नसौख्यामलसिद्धिसाधकम् ।।
सहेतुकं यद्यपि भव्यते बुधैः।
श्रृणोति मानी न तथापि सद्वचः ।।१६।।

अर्थ - बुद्धिमानों का कथन है कि सज्जनों के श्रेष्ठ वचन अपार संसार रूपी समुद्र को पार कराने वाले, पवित्र सुख एवं सिद्धियों को प्रदान करने वाले होते हैं। परन्तु अभिमानी उन वचनों को नहीं सुनता है।

भावार्थ - संसार अपार सागर है। इस सागर से पार होने के लिए सज्जनों के वचन नौका के समान होते हैं। सज्जन लोग परहित की भावना से सन्मार्ग का प्रदर्शन करते हैं। अभिमानी पुरुष उन पवित्र एवं योग्य वचनों को नहीं सुनता है। यदि कदाचित् वे श्रेष्ठ वचन उसे सुनने में भी आ जाते हैं तो वह उन वचनों पर विचार नहीं करता है।

स्वबन्धुभिः सद्वचनैरुदारैः।
सभाजनैर्वा बहुपण्डितैश्च।।
विबोध्यमानोऽपि सहस्रशोऽज्ञ-
स्तथापि मानं न जहाति मानी ।।१७।।

अर्थ - अपने बन्धुओं, सभा के सज्जनों एवं अनेक विद्वानों के द्वारा परम एवं उदार वचनों से हजारों बार समझाया जाने पर भी मानी पुरुष अपने मान को नहीं छोड़ता है।

भावार्थ - अभिमानी मनुष्य बहरा होता है। उसे परवचन सुनाई नहीं देते। अतः अभिमानी को यदि बन्धुजन, सज्जन एवं विद्वानों के द्वारा भी समझाया जाये तो भी वह उन्हें नहीं मानता है। अपनी मनमानी की आदत न छोड़ पाने के कारण वह सदैव दुःखी ही रहता है।

न मानिनः केऽपि भवन्ति दासाः,
न मित्रतां याति हि कश्चिदेव ।
निजोऽपि शत्रुत्वमुपैति तस्य,
किं वाथ मानो न करोति नृणाम् ।।१८।।

अर्थ - कोई भी पुरुष मानी व्यक्ति की दासता को स्वीकार नहीं करता।

कोई उससे मित्रता नहीं करता। उसके स्वजन भी उसके शत्रु हो जाते हैं। मान मनुष्य का कौनसा अनर्थ नहीं करता है ? अर्थात् मान सभी प्रकार के अनर्थों को करता है।

भावार्थ - मानी पुरुष अवसर मिलने पर दूसरों की अवज्ञा करने में एक पल भी नहीं चूकता। उसकी चाकरी करने में लोग अपमान के भय से ग्रसित होते हैं। अतः कोई उसकी दासता करना पसन्द नहीं करता, उसका मित्र बनना नहीं चाहता, स्वजन लोग भी उसके साथ शत्रुत्व धारण कर लेते हैं। इसप्रकार मानी सब तरफ से अपनी हानि कर बैठता है।

सर्वदा कलित तातवचोभ्यां।
न्यायधर्मसमभावरतिभ्याम् ।।
यत्कृतं भरतबाहुबलिभ्यां।
मानदोष इति सोऽत्र जिनोक्तम् ।।१९।।

अर्थ - जिनेन्द्र प्रभु ने कहा है कि मान के दोष के कारण ही पिता के वचनों का पालन करने वाले, न्याय, धर्म और समानता के भाव में प्रीति करने वाले भरत और बाहुबली ने जो कुछ किया वह सर्वविदित ही है।

भावार्थ - भगवान आदिनाथ के शक्तिशाली, न्यायशील, पिता के आदेशों का अक्षरशः पालन करने वाले भरत और बाहुबली इन दोनों पुत्रों में अहंकार के कारण हुए युद्ध ने उनके यश को कलंकित कर दिया।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने लिखा है-

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलिसिओ धीर।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं।।

(भावपाहुड - ४४)

अर्थात् -शरीरादिक से स्नेह छोड़ देने पर भी बाहुबली मान कषाय के कारण से कलुषित रहे। अतः आतापन योग के द्वारा उन्हें कितने ही समय

तक कलुषित रहना पड़ा।

आचार्य श्री गुणभद्र ने लिखा है -

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं,
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुञ्चेत् ।
क्लेशं किलाप स हि बाहुबली चिराय,
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति।।

(आत्मानुशासन- २१७)

अर्थात् -अपनी दाहिनी भुजा पर स्थित चक्ररत्न को छोड़ कर बाहुबली ने जो दीक्षा ली थी, उससे वे उसीसमय मुक्त हो सकते थे। परन्तु चिरकाल तक क्लेश पाते रहे। ठीक ही है, क्योंकि थोड़ा-सा भी मान बहुत बड़ी हानि करता है।

भरत और बाहुबली की कथा

भगवान आदिनाथ ने अपने राज्य के विधिवत् भेद करके सभी पुत्रों को उनका अधिपति बनाया तथा आत्मकल्याण की भावना को मन में धारण कर मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। एक बार भरत के शस्त्रागार में चक्ररत्न प्रकट हुआ। यथासमय दिग्विजय के लिये निकले हुए भरत ने षट्खण्ड पर अपना अधिपत्य कायम कर लिया। दिग्विजय करके जब वे लौटे तब चक्ररत्न गोपुर के पास ही रुक गया। चिन्तित हुए भरत ने अपने पुरोहित को बुलाकर इसका कारण पूछा। पुरोहित ने विनयपूर्वक कहा कि " हे देव ! अभी आपके भाई अजेय हैं। जबतक आप सर्वविजित नहीं हो जाते तबतक यह चक्र नगरप्रवेश नहीं करेगा।" भरत ने अपने सेनापतियों से विचार विमर्श करके अपने भाइयों के पास चतुर दूतों को भेजा। दूतों ने भरत के आज्ञानुसार जाकर उनके भाइयों को चक्रवर्ती का सन्देश सुनाया। सारे राजकुमार चक्रवर्ती का सन्देश सुन कर आपस में मन्त्रणा करने लगे। तदुपरान्त वे भगवान आदिनाथ के समवशरण में गये। उन सब ने दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली।

एक दूत पोदनपुर के नरेश बाहुबली के पास भी गया। उसने अपने आने का प्रयोजन महाराजा बाहुबली को बताया। दूत ने सविनय निवेदन किया कि " हे देव ! आप चक्रवर्ती भरत को प्रणाम करके उनकी अधीनता स्वीकार कर लीजिये।" बाहुबली ने उत्तर दिया कि " हे दूत ! बड़ा भाई नमस्कार करने के योग्य है, यह बात अन्य समय में अच्छी तरह समझ में आती है परन्तु जिसने मस्तक पर तलवार रख छोड़ी है उसको प्रणाम करना कौनसी रीति है ? भरत को कहना कि अब हम दोनों का जो कुछ होगा, वह युद्ध में ही होगा।" दूत ने भरत के पास आकर बाहुबली के सन्देश को ज्यों का त्यों सुनाया। दोनों पक्षों में युद्ध की तैयारी होने लगी।

यथासमय युद्ध प्रारंभ हो गया। इतने में दोनों पक्ष के मन्त्रियों ने विचार करके कहा कि दोनों चरम शरीरी हैं, अतः दोनों की कुछ भी हानि नहीं होगी। केवल युद्ध के बहाने से अनेक मनुष्यों का संहार होगा। अतः दोनों में धर्मयुद्ध ही होना चाहिये। मन्त्रियों के निर्णयानुसार दोनों में जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और मल्लयुद्ध हुआ। तीनों में बाहुबली ने विजयश्री का वरण किया। भरत ने अपना अपमान हुआ जान कर चक्ररत्न बाहुबली पर फेंक दिया। देवोपनीत शस्त्र कुटुम्बी जनों पर सफल नहीं होते। अतः उस चक्र ने बाहुबली की प्रदक्षिणा देकर वह उन्हीं के पास जा ठहरा। बाहुबली ने संसार की असारता को जान कर राज्य का भार त्याग कर दीक्षा धारण कर ली। बाहुबली ने एकवर्ष उपवास करके खड़े होकर कठोर तपश्चर्या की।उनकी तपश्चर्या अद्‌भुत थी।परन्तु भरतेश्वर मेरे द्वारा संक्लेश को प्राप्त हुआ है, यह विचार उनके मन में सदा ही बसा हुआ था। इस कारण से उन्हें केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो रही थी। जब चक्रवर्ती भरत ने आकर उनकी पूजा की, तब उनके मन का यह विकल्प दूर हो गया तथा उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

तात्पर्य यह है कि इतना दिव्य तप भी उनके कैवल्य में तबतक सहायक नहीं बन सका, जबतक मन का अहंकार नहीं मरा। अतः सज्जनों को अहंकार सर्वदा के लिए छोड़ देना चाहिये।

माया का फल

अभ्युत्थानविधिं करोति सहसा बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणो,
गाढं श्लिष्यति भाषतेऽतिमधुरं दत्ते निजार्धासनम् ।
कृत्यं तत्पुनरन्यथा च कुरुते मायासमेतः पुमान्।
यस्तं साधु विगर्हितं खलजनं कः सेवते शुद्धधीः ।।२०।।

अर्थ - मायाचारी पुरुष आँखों से अश्रु बहाता हुआ अतिशय हर्ष को व्यक्त करता हुआ सत्कार करता है, गाढ़ आलिंगन करता है, मधुर भाषण करता है, अपना आधा आसन देता है, परन्तु कार्य विपरीत ही करता है। ऐसे साधुओं के द्वारा निन्दित दुष्ट पुरुष की सेवा कौन बुद्धिमान मनुष्य करता है ? कोई भी नहीं करता।

भावार्थ - संस्कृत नीतिकार ने लिखा है -

मुखं पद्मदलाकारं, वाचा चन्दनशीतला।
हृदयं कर्तरि तुल्यं, त्रयं धूर्तस्य लक्षणम् ।।

अर्थात् - कमल के पत्तों के समान मुख, चन्दन के समान शीतल वचन एवं कैंची के समान हृदय ये धूर्त के तीन लक्षण हैं।

इस श्लोक में भी ग्रंथकर्ता लिखते हैं कि मायाचारी आगन्तुक इष्ट पुरुष का स्वागत करते हुए अपनत्व का प्रदर्शन करता है। उसके हावभावों को देखकर ऐसा लगता है, मानो उसका अतिशय प्रेम उमड़ आया हो। परन्तु वह कार्य सदा ही विपरीत करता है। ऐसे दुष्ट पुरुष की संगति करने के लिए कोई भी तैयार नहीं होता है।

व्याघ्री नो कुपिता न चापि शरभो नैवान्तकी राक्षसी,
शस्त्रेणापि तथा न पावकशिखा नो शाकिनी डाकिनी ।
नो वज्राशनिरुत्तमाङ्गपतिता सर्वस्वहानिस्तथा,
दुःखं भूरि यथा करोति रचिता माया नृणां संसृतौ ।।२१।।

अर्थ - इस संसार में माया मनुष्य को जितना अधिक दुःख देती है तथा हानि पहुँचाती है, उतनी पीड़ा एवं हानि क्रोधित व्याघ्री से, शरभी से, राक्षसी से, शस्त्रों से, अग्निशिखा से, शाकिनी से, डाकिनी से तथा मस्तक पर गिरे हुए वज्र से नहीं होती है।

भावार्थ - ग्रंथकर्ता भव्य जीवों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि संसार में दुःख को उत्पन्न करने वाले जितने भी निमित्त हैं, वे जीव का उतना अनर्थ नहीं करते जितना कि माया कषाय करती है। अतः दुःखमोचन के लिए माया का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

त्यक्ताशेषपरिग्रहा अपि सदा विज्ञातशास्त्रा अपि,
शश्वद्द्वादशभेदतत्त्वतपसा संपीडिताङ्गा अपि ।
केचिद्भैरव गौरवाद्विहितया दुर्लक्षया मायया,
मत्वा यान्ति कुदेव योनितवशां माया न किं दुःखदा।।२२।।

अर्थ - अशेष परिग्रहों का त्यागी, सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता, सतत बारह प्रकार के तप से अपने शरीर को कष्ट देने वाला, अत्यन्त गौरव को प्राप्त करके भी माया के कारण कु-देव योनि में जाता है। माया मानव को कौनसा दुःख नहीं देती ? अर्थात् सभीप्रकार के दुःख देती है।

भावार्थ - जिन्होंने बाह्य और आभ्यन्तर चौबीस परिग्रहों का त्याग कर दिया है, सम्पूर्ण शास्त्रों को वाचना आदि पद्धति से अच्छीतरह जान लिया है, बाह्याभ्यन्तर तप का जो सदैव अनुष्ठान करते हैं , ऐसे महान मुनिराज भी यदि मायाचार करते हैं तो वे असमाधि से मरण करके देवदुर्गति को प्राप्त होते हैं। कन्दर्प, अभियोग्य, किल्विष, स्वमोह और असुर इन देवपर्यायों को प्राप्त होने को देवदुर्गति कहते हैं।

जब एक विशिष्ट साधक को मायाचार का इतना भयंकर दुःख भोगना पड़ता है , तब सामान्य लोगों की दशा क्या होगी ? अतः माया कषाय को दूर से ही छोड़ देना चाहिये।

छिद्रावलोकनपरं सततं परेषां ।
जिह्वाद्वयेन भयदानविधानदक्षम् ।।
अन्तर्विपाक हृदयं कुटिलस्वभावं ।
माया करोति हि नरं सभुजङ्गचेष्टम् ।।२३।।

अर्थ - माया मनुष्य को हमेशा दूसरों के दोषों को देखने में चतुर, दो जिह्वाओं के द्वारा अर्थात् चुगलखोरी की आदत के द्वारा दूसरों को भय देने वाला, कुटिल स्वभाव के कारण बदले की भावना से परिपूर्ण तथा सर्प के समान चेष्टा करने वाला बनाती है।

भावार्थ - मायावी अपने को दूसरों से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न सदैव करता रहता है। अतः वह परदोषों को देखने में चतुर होता है। मायावी पुरुष सर्प की तरह चेष्टाओं का धारक होता है। संस्कृत भाषा में सर्प को द्विजिह्व कहते हैं, क्योंकि उसके दो जिह्वाएँ होती हैं। मायावी भी द्विजिह्व होता है, क्योंकि वह सामने कुछ बोलता है तथा पीठपीछे कुछ बोलता है। मायाचारी अपनी चुगली करने की आदत से दूसरों को दुःख उत्पन्न करने वाला होता है। जैसे सर्प में बदले की भावना पायी जाती है, उसीप्रकार मायाचारी व्यक्ति भी बदले की भावना से युक्त होता है।

धीरोऽपि चारुचरितोऽपि विचक्षणोऽपि।
शीलालयोऽपि सततं विनयान्वितोऽपि ।।
बुद्धोऽपि वृद्धधनवानपि धीधनोऽपि।
मायासखः सदसि याति लघुत्वमेव ।।२४।।

अर्थ - धीर, सच्चरित्र, विचक्षण, शीलवान, विनय गुण से सम्पन्न, सजग, वृद्ध, धनवान और बुद्धिमान व्यक्ति भी यदि माया के साथ मैत्री करता है तो वह लघुता को प्राप्त करता है।

भावार्थ - माया लघुता की जननी है। जो भी उसके साथ मित्रता करता है,

उसे वह लघु बना देती है। कपटी पुरुष में विद्यमान धीरता, सच्चरित्रता, शीलसंपन्नता, विनय आदि गुण भी उसे प्रसिद्धि के शिखर पर बैठने नहीं देते हैं। मायावी पुरुष चाहे धनवान हो या बुद्धिमान, चाहे वयोवृद्ध हो या अन्य किसी भी विशेषता से युक्त हो मायाचार सम्पूर्ण पात्रताओं को नष्ट कर देता है।

आराध्यमानस्य च देववृन्दं।
प्रपूज्यमानस्य हि साधुवृन्दम्।।
निषेव्यमानस्य तु राजलोकं।
न मायिनः सिद्ध्यति कार्यजातम् ।।२५।।

अर्थ - देवताओं की पूजा, साधुओं की सेवा और राजाओं की सेवा करने पर भी मायाचारी पुरुष का कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है।

भावार्थ - मनुष्य अपनी इष्टसिद्धि के लिए देवताओं की पूजा, गुरुओं की सेवा और राजाओं की सेवा करता है। इन सब कार्यों को करते हुए भी मायाचारी पुरुष अपने इष्टकार्यों की सिद्धि नहीं कर पाता है।

न तस्य माता न पिता न मित्रं।
न बान्धवा न स्वजनाः न पुत्राः।।
चाटूनि नुर्नाट्यततोऽपि नित्यं।
न मायया विश्वसिति हि कोऽपि ।।२६।।

अर्थ - मायाचारी व्यक्ति की न कोई माता हैं, न पिता हैं, न बन्धु हैं, न सम्बन्धि हैं, न पुत्र है। चापलूसी प्रदर्शित करने वाले पर कोई भी विश्वास नहीं करता है।

भावार्थ - मायाचारी मनुष्य चाटुकारिता के माध्यम से अपने कार्यों की सिद्धि करना चाहता है। वह अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए कुछ भी कर

गुजरता है। अतः ऐसे मनुष्य पर उसकी माता, पिता, मित्र, बन्धु, स्वजन और पुत्रादिक भी विश्वास नहीं करते हैं।

न मायया धर्म यशोऽर्थकामा।
न चेह पूजा न परत्र सिद्धिः।।
न प्राप्यते किंचिदपीष्टमन्य-
दतीहि माया सुखदा न कस्यचित् ।।२७।।

अर्थ - माया से धर्म, यश, अर्थ, काम, इस लोक में प्रतिष्ठा और परलोक में सिद्धि नहीं होती है। अन्य भी इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति माया से नहीं होती। अतः माया किसी को भी सुखकारी नहीं है।

भावार्थ - माया सम्पूर्ण सद् गुणों का विनाश करती है। जैसे कुत्ते के पेट में घी नहीं टिकता है, उसीप्रकार मायाचारी के पास धर्म स्थिर नहीं रह पाता है। जैसे सूखे वृक्ष पर पक्षीगण नहीं रहते हैं, उसीप्रकार जिसके पास धर्म नहीं, उसके पास यश और वैभव भी नहीं रह पाता। वैभव के बिना कामपुरुषार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है ? मायाचारी को इस लोक में प्रतिष्ठा की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि प्रतिष्ठा सरल एवं सदाचारी मनुष्यों को मिलती है। परलोक में भी मायावी दुःखी ही रहता है। कोई भी इष्ट वस्तु माया के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती है। इसलिए माया कषाय किसी के लिए भी सुखकर नहीं है।

राजा धर्मरतः सतामभिमतः श्रीमान् विशुद्धाधाशयो,
न्यायान्यायविचारणैकचतुरो निःशेषशास्त्रार्थवित् ।
व्यक्तं सानृत भाषया किल गतः पातालमूलं वसुः,
संसारेऽस्ति किमत्र दुःखमतुलं यन्नाप्यते मायया ।।२८।।

अर्थ - धर्म में रत, सज्जनों के द्वारा पूज्य, सम्पत्तिशाली, शुद्ध विचारों का धारक, न्याय-अन्याय का विचार करने में चतुर, समस्त शास्त्रों के अर्थ को

जानने वाला राजा वसु असत्य भाषण करने से नरक में गया। अतः संसार में ऐसा कौनसा दुःख है जो माया से प्राप्त नहीं होता है ? अर्थात् माया कषाय के कारण से जीव को सभी प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं।

भावार्थ - राजा वसु धर्म में रत था, सज्जनों के द्वारा पूज्य था, सम्पत्तिशाली था, शुद्ध विचारों का धारक था, न्याय और अन्याय का निर्णय करने में चतुर था तथा सम्पूर्ण शास्त्रों के अर्थ को जानने वाला था। उसने माया कषाय के वशीभूत होकर झूठ बोला और वह मरकर नरक में गया।

राजा वसु की कथा

स्वस्तिकावती नामक एक सुन्दर नगरी थी। उस नगरी में विश्वावसु नामक राजा राज्य करता था। उसकी श्रीमती नामक रानी और वसु नाम का एक पुत्र था। उसी नगर में क्षीरकदम्ब नामक एक उपाध्याय रहता था। उसकी स्त्री का नाम स्वस्तिमती और पुत्र का नाम पर्वत था। क्षीरकदम्ब राजपुत्र वसु, ब्राह्मणपुत्र नारद और अपने पुत्र पर्वत को विद्याध्ययन कराते थे।

एकदिन वसु के किसी अपराध पर उपाध्याय उसे दंड दे रहे थे। उसी समय स्वस्तिमती ने बीच में पड़कर वसु को बचा लिया। वसु ने गुरुमाता से कहा " हे मात ! आज तुमने मुझे दण्ड से बचाकर उपकृत किया है। कहो, तुम्हें क्या चाहिये ? " स्वस्तिमती ने कहा " हे पुत्र ! मुझे जब आवश्यकता होगी, तब मैं तुमसे माँगूंगी।"

एकबार किन्हीं ऋद्धिधारी मुनिराज का उपदेश प्राप्त कर क्षीरकदम्ब ने मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। अतः उनका पद उनके पुत्र पर्वत को मिला। राजा विश्वावसु के दीक्षा ले लेने पर राजसिंहासन वसु को प्राप्त हुआ। वसु ने अपने सिंहासन में स्फटिकमणि के पाये बनवाये। जो भी सिंहासन को दूर से देखता तो ऐसा लगता मानों वह सिंहासन आकाश में ही ठहरा हुआ हो। अतः लोगों में भ्रम फैल गया कि राजा वसु बड़ा ही न्यायप्रिय राजा है तथा उसकी सत्यता के प्रभाव से ही सिंहासन आकाश में ठहरा हुआ है।

कषायजय-भावना

किसीसमय नारद अपने गुरुभाई से मिलने के लिए आया हुआ था। उससमय पर्वत अपने शिष्यों को कर्मकाण्ड विषयक पाठ पढ़ा रहा था। उसने **अज्जैर्यष्टव्यमिति** इस पाठ का **बकरे की बली देकर होम करना चाहिये** ऐसा अर्थ किया। नारद ने समझाया कि इस श्रुति का यह अर्थ उचित नहीं है। गुरुजी ने इस श्रुति का **तीन वर्ष पुराने धान से , जिसमें कि उगने की शक्ति नहीं हो, उससे हवन करना चाहिये** ऐसा अर्थ बताया था। धर्म अहिंसा लक्षण वाला होता है। हिंसात्मक क्रिया धर्म का रूप धारण नहीं कर सकती। नारद के द्वारा युक्तिपूर्वक समझाये जाने पर भी पर्वत अपने दुराग्रह पर अड़ा रहा। दोनों में वादविवाद होने लगा। दोनों ने अपना मध्यस्थ राजा वसु को चुना। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जिसका कहना झूठ होगा, उसकी जबान काट दी जाय।

पर्वत ने घर जाकर सारा किस्सा अपनी माता को सुनाया। माता ने उसे बहुत फटकारा किन्तु जब उसे प्रतिज्ञा की बात मालूम पड़ी तो वह घबरा गयी। वह पुत्र के प्रेम में पागल होकर राजा वसु के पास गयी। उसने वसु से कहा कि "हे पुत्र ! तुम्हें याद होगा कि मेरा एक वर तुमसे लेना बाकी रहा है। कल तुम्हारे दरबार में पर्वत और नारद आयेंगे। यद्यपि नारद का पक्ष सही है तो भी तुमको पर्वत के पक्ष में समर्थन करना है।" राजा वसु ने वैसा ही करने की हामी भर दी।

दूसरे दिन राजसभा लगी हुई थी। पर्वत एवं नारद ने राजसभा में प्रवेश करके अपने आने का कारण बताया तथा अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत किया तथा अपने प्रतिज्ञावाक्य राजा को अवगत कराये। राजा यद्यपि सत्य को जानता था तथापि उसने पर्वत के पक्ष में अपना समर्थन किया। उसके झूठ बोलते ही सिंहासन जमीन में धंसने लगा। नारद के अनेकों बार समझाने पर भी उसने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। पापकर्म के उदय से उसका सिंहासन पृथ्वी में समा गया और राजा वसु मरकर सातवें नरक में गया।

तात्पर्य यह है कि माया के कारण असत्य बोलने वाले राजा वसु की यह दुर्दशा हुई । अतः आत्मकल्याण करने के इच्छुक भव्य जीव को माया कषाय का अवश्य ही परिहार करना चाहिये।

लोभ का फल

शृंगाग्रं सहसाधिरोहति गिरेर्भूमण्डलं भ्राम्यति ।
दोर्भ्यां सिन्धुजलं तितीर्षति चिरं देशान्तरं लङ्घते।।
भूरन्ध्रं विशति प्रसर्पतिदिशः सर्वांश्चि वित्ताशया ।
तत्किं साहसमस्ति यन्न कुरुते लोभाकुलोऽयं जनः ।।२९।।

अर्थ - लोभी पुरुष लोभ के कारण सहसा पर्वत की चोटी पर चढ़ जाता है। भूमण्डल पर घूमता है। दोनों हाथों से समुद्र के जल में तिरना चाहता है। देश-विदेश में परिभ्रमण करता है। पृथ्वी के नीचे प्रवेश करता है। धन के लिए सारी दिशाओं में भ्रमण करता है। कौनसा ऐसा साहस है, जिसे लोभी व्यक्ति नहीं करता है ? अर्थात् लोभी व्यक्ति सारे साहस युक्त कार्यों को करता है।

भावार्थ - लोभी मनुष्य धनार्जन करने को इतनी प्राधान्यता देता है कि वह धन के लिए किसी भी तरह का पुरुषार्थ करने के लिए तत्पर रहता है। पर्वत पर चढ़ना, देश-विदेशों में परिभ्रमण करना, अपने बाहुयुगल के द्वारा सागर में तिरना, खदान आदि में प्रवेश करना आदि साहसपूर्ण कार्य लोभी मनुष्य करता है।

वित्तार्थी नृप सेवया विषहते कष्टं निशा जागरं।
उष्णं वाथ न मन्यते न शिशिरं तोयं न मेघागमे ।।
आदेशं प्रतिपद्य तस्य विषमं साध्नोति संप्रेक्षणी,
लोभेनानुरतेन चेतसि सदा किं किं न कुर्याज्जनः ।।३०।।

अर्थ - धन का इच्छुक व्यक्ति राजा की सेवा में रात्रिकाल में जाग कर कष्ट सहन करता है। उष्णता, शीत, जल अथवा वर्षा का ध्यान नहीं करता है। उसका आदेश पाकर अपनी दृष्टि को ही बदल लेता है। लोभ से युक्त मनुष्य

क्या-क्या नहीं करता है ? अर्थात् सारे ही कार्य करता है।

भावार्थ - लोभी मनुष्य अर्थ के उपार्जन के लिए अतिशय व्यस्त रहता है। धनार्जन के लिए परिश्रम करते हुए वह रात भर राजा की सेवा में जागरण करता है। शीत और उष्णता के विषयक अनेक कष्टों को सहन करता है। अपने स्वामी का आदेश पाकर वह उसे प्रसन्न करने के लिए यथासंभव कार्य करने के लिए तत्पर रहता है। इसप्रकार लोभी लोभ के वशीभूत होकर नाना प्रकार के सन्ताप प्राप्त करता है।

शेते नित्यं त्रुटितशटिते मञ्चके भग्नपादे।
भुङ्क्ते स्तोकं तदपि कुथितं जीर्णमन्नं क्षुधार्तः ।।
धत्ते शीर्णं मलमलिनितं वस्त्रखण्डं च कट्या-
मेवं लोभी द्रविणमधिकं प्रत्यहं सञ्चिनोति ।।३१।।

अर्थ - लोभी मनुष्य हमेशा टूट चुके हैं पैर जिसके ऐसी खाट पर सोता है। भूख से पीड़ित हो कर सड़ा-गला अन्न खाता है। शरीर पर फटा हुआ मलिन वस्त्र धारण करता है। इसप्रकार लोभी प्रतिदिन अधिक से अधिक धन एकत्र करता है।

भावार्थ - लोभी मनुष्य धन का उपयोग अपनी सुख-सुविधाओं के लिए भी नहीं करता। धन को बचाने के लक्ष्य को मन में धारण करके वह टूटी हुई खाट पर सोना, सड़ा-गला अन्न खाना, फटा हुआ मलिन वस्त्र पहनना आदि जीवन पद्धति का अनुसरण करता है। अधिक से अधिक धन को एकत्र करना ही उसका एकमात्र उद्देश्य होता है।

जिनालयमनुत्तरं ननु न कारयत्युज्ज्वलं
जिनाधिपतिपूजनं न च करोति सत्संगमम् ।
ददाति च तपस्विनां प्रतिदिनं न दानं महद्,
हिरण्यमपि वर्धयन् मरणमेति लोभी जनः ।।३२।।

अर्थ - लोभी मनुष्य श्रेष्ठ एवं उज्वल जिनमन्दिर नहीं बनाता है। जिनेन्द्र प्रभु की पूजन नहीं करता है। सत्संगति नहीं करता है। प्रतिदिन तपस्वियों के लिए दान नहीं देता है। इसप्रकार सोने का वर्धन करता हुआ लोभी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ - लोभी मनुष्य धन का वर्धन करने की इच्छा से निरन्तर प्रयत्नरत रहता है। वह जिनमन्दिर नहीं बनवाता, पूजन नहीं करता, सत्संगति नहीं करता तथा दानादि में प्रवृत्त नहीं होता। इतना सबकुछ करते हुए भी लोभी अतृप्त अवस्था में ही मर जाता है।

भारं समुद्वहति हीनबलोऽपि नित्यं।
मार्गेण गच्छति बहून्यपि योजनानि ।।
क्षुद्वेदनां विसहते सहते च तृष्णां।
लोभाकुलः किमथवा कुरुते न कष्टम् ।।३३।।

अर्थ - बलहीन होने पर भी लोभी नित्य बोझा ढोता है। कई योजनों तक पैदल यात्रा करता है। भूख और प्यास को सहन करता है। इसप्रकार लोभी मनुष्य कौनसा कष्ट सहन नहीं करता है ? अर्थात् सम्पूर्ण कष्टों को सहन करता है।

भावार्थ - मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता है। धन की प्राप्ति होना या न होना कर्माधीन है - इस सत्य को विस्मृत कर चुका लोभी यद्यपि परिश्रम तो करता है, किन्तु प्राप्त वस्तु में सन्तोष न होने से वह सदैव दुःखी रहता है।

लिखति सिञ्चति गायति लोभवान्
कृषति सिञ्चति पाति लुनाति च ।
खनति धावति नौति धनाशया,
तदपि नो भवतीह धनी जनः ।।३४।।

अर्थ - धन को प्राप्त करने की इच्छा से लोभी मनुष्य लिखता है, गाता है, जोतता है, सींचता है, रक्षा करता है, काटता है, खोदता है अथवा दौड़ता है। फिर भी वह धनवान नहीं बन पाता है।

भावार्थ - मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं।आचार्य भगवन्त श्री गुणभद्र लिखते हैं -

आशागर्तः प्रतिप्राणी, यस्मिन् विश्वमणुपमम् ।
कस्य किं कियदायाति, वृथा वो विषयैषिता।।

अर्थात् -प्रत्येक मनुष्य का आशा का गड्ढा दुष्पूर है। उसमें विश्व के पदार्थ अणु के समान है। किसे क्या दिया जाये ? इसलिए आशा करना व्यर्थ ही है।

लोभी मनुष्य धन प्राप्त करने की इच्छा से विविध प्रकार के कार्य करता है, फिर भी धनवान नहीं बन पाता।

लोभेन रात्रौ न सुखेन शेत।
लोभेन लोकः समये न भुङ्.क्ते ।।
लोभेन काले न करोति धर्मं।
लोभेन पात्रे न ददाति दानम् ।।३५।।

अर्थ - लोभी मनुष्य लोभ के कारण रात्रि में सुख से सोता नहीं है। समय पर ठीक से खाता नहीं है। लोभ के कारण समय पर धर्म नहीं करता है। लोभ के कारण पात्र को दान नहीं देता है।

भावार्थ - लोभ मनुष्य को प्राप्त वस्तुओं में संतुष्ट नहीं होने देता। कुछ और पाने की चाह में लोभी समय पर न ठीक से खा पाता है, न रात्रि में ठीक से सो पाता है। कहीं धर्मकार्य में समय व्यतीत करके कुछ पाने से वंचित न हो जाऊं, इस भय से वह धार्मिक कार्यों को नहीं करता है। पात्रदान में कहीं मेरे धन का व्यय न हो जाये, इस भय से लोभी पात्रदान भी नहीं

करता है। इसतरह लोभी सत्कार्य नहीं कर पाता है।

दुःखं न जानाति न वेत्ति सौख्यं।
हिताहितं लक्षयते न मूढः ।।
कालं बहुं यातमिहार्थलोलः।
क्षणेन तुल्यं मनुते हि लोभी ।।३६।।

अर्थ - मूर्ख लोभी व्यक्ति न दुःख को जानता है, न सुख को जानता है। वह हित और अहित को भी नहीं जानता है। उसका बीता हुआ समय एक क्षण जैसा मालूम होता है।

भावार्थ - लोभ मनुष्य को इतना विवेकहीन बना देता है कि उसके चंगुल में फँसा हुआ मनुष्य अपने विषय में कुछ भी चिन्तन करने में असमर्थ हो जाता है। लोभी अपनी इच्छा का गड्ढा भरने के लिए इतना बेभान हो जाता है कि उसे अपना हित और अहित का ज्ञान ही नहीं रह पाता। वह अपने लिए सुखकारी वस्तुओं को दुःखदायक और दुःखकारी वस्तुओं को सुख दायक मानता है। लोभ की पूर्ति में व्यतीत हुआ बहुत सा समय भी उसे क्षणभर-सा मालूम पड़ता है।

पीनाकस्य कथां निशम्य सुधियो ज्ञात्वा मृतिंचामरीं।
दृष्टं तं कलहस्तकस्य निपुणं संचिन्त्य चित्ते पुनः ।।
भव्याः श्री जिनशासने कृतधियो व्यावर्त्य चित्तेस्पृहां,
संसारोद्भवदुःखदानचतुरं लोभं त्रिधा मुञ्चतु ।।३७।।

अर्थ - पीनाक की कथा को सुनकर दैवी स्वरूप को जानकर स्वहस्त की निपुणता को देखकर फिर चित्त में विचार करके जिनशासन में स्थिर बुद्धि वाले भव्य जीव को मन, वचन और काय से लोभ का त्याग कर देना चाहिये।

भावार्थ - आगम में लोभ कषाय के विषय में पिण्याकगन्ध की कथा प्रसिद्ध

है। उस कथा को जानकर तथा लोभ कषाय के दुष्परिणामों का अच्छीतरह विचार करके लोभ का परित्याग करना चाहिये।

पिण्याकगन्ध की कथा

कांपिल्य नगर में पिण्याकगन्ध नामक सेठ रहता था। वह अत्यन्त मूर्ख एवं लोभी था। उसकी पत्नी का नाम सुन्दरी एवं पुत्र का नाम विष्णुदत्त था। एक दिन तालाब को खोदते हुए एक मजदूर को सोने की सलाइयों से भरी हुई लोहे की सन्दूक मिल गई। मज़दूर ने सोने की सलाइयों को लोहे की समझ कर सेठ जी के पास ले जा कर बेच दी। सेठ ने धीरे-धीरे अट्ठानवें सलाइयाँ लोहे के भाव में ही खरीद ली। एक दिन सेठ जी को किसी आवश्यक कार्यवशात् दूसरे गाँव को जाना पड़ा। जाते-जाते उसने अपने पुत्र को अपने पास बुलाकर तथा उसे एक स्वर्णसलाई दिखाकर कहा " बेटा ! इस तरह की सलाई बेचने के लिए कोई आवे तो तुम उसे खरीद लेना।" मजदूर सलाई बेचने के लिए पिण्याकगन्ध की दुकान पर आया। विष्णुदत्त ने उसे खरीदने से इन्कार कर दिया। मजदूर जब पुनः लौट रहा था, तो उसे राजसैनिक ने पकड़ लिया। राजपुरुष ने मजदूर से सलाई छीन ली और उसी सलाई के द्वारा वह जमीन खोदने का कार्य करने लगा। काम करते-करते सलाई के ऊपर लगा हुआ मैल निकलने लगा। उस पर लिखे हुए शब्द साफ दिखाई देने लगे। उस पर लिखा हुआ था कि सन्दूक में सौ सलाइयाँ हैं। राजपुरुष ने मजदूर को सन्दूक के बारे में पूछा। घबराये हुए मजदूर ने सारी हकीकत उगल दी। राजपुरुष ने उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया। राजा के पूछने पर मजदूर ने कहा कि मैंने एक सलाई जिनदत्त सेठ को तथा अट्ठानवें सलाइयाँ सेठ पिण्याकगन्ध को बेची हैं। राजा ने जिनदत्त सेठ को बुलवाया। सेठ ने कहा " राजन् ! यह बात सही है कि मैंने एक सोने की सलाई को लोहे की समझकर खरीद लिया था, परन्तु जब सत्य का पता चला, तब मैंने खरीदना बन्द कर दिया। मैंने उस एक सलाई के सोने की जिनप्रतिमा बनवाकर मन्दिर में विराजमान कर दी है।" उसके उत्तर से संतुष्ट हुए राजा ने उसे ससम्मान विदा किया।

राजा ने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि सेठ पिण्याकगन्ध को उपस्थित किया जाय। राजसेवक सेठ पिण्याकगन्ध के घर गये। सेठ तो गाँव गया हुआ था। अतः विष्णुदत्त को ही राजदरबार में उपस्थित होना पड़ा। विष्णुदत्त को वस्तुतः कुछ भी जानकारी नहीं थी। इसलिए वह राजा को संतुष्ट नहीं कर सका। क्रोधित हुए राजा ने सेठ पिण्याकगन्ध के परिवार को कारावास में डाल कर उसकी संपत्ति जब्त करा ली।

जब सेठ पिण्याकगन्ध घर की ओर आ रहा था तो उसे रास्ते में ही अपने परिवार की दुर्दशा का पता चल गया। उसने मन में विचार किया कि ये पाँव न होते तो मैं कहीं बाहर गाँव न जा पाता। यदि मैं बाहर गाँव को नहीं जाता तो आज ये विपत्ति नहीं आती। ऐसा विचार कर उसने अपने पैरों पर बड़ा पत्थर मार लिया। उस कारण उसके पैर टूट गये। आर्त्तध्यान से मर कर सेठ नरक में गया।

तात्पर्य यह है कि लोभ में फँस कर सेठ ने इसलोक में अपने परिजनों का वियोग व असहनीय पीड़ा सहन की तथा मरकर नरक की वेदनाओं का वेदन किया। लोभ इसलोक तथा परलोक के लिए दुखकारी है। अतः लोभ का त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

इमे कषायाः सुखसिद्धिबाधकाः।
इमे कषायाः भववृद्धिसाधकाः।।
इमे कषायाः नरकादिदुःखदा।
इमे कषायाः बहुकल्मषप्रदाः ।।३८।।

अर्थ - ये कषायें सुख की प्राप्ति में बाधक हैं। ये कषायें भव की वृद्धि करने वाली हैं। ये कषायें नरकादि दुःख को देने वाली हैं। ये कषायें बहुत कल्मषों को उत्पन्न करने वाली हैं।

भावार्थ - आत्मा के अनाकुल परिणामों को सुख कहते हैं। सुख को प्राप्त करने के लिए आत्मा में कषायों का अनुदय होना आवश्यक होता है। ये कषायें आत्मा को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सुखी

नहीं होने देती है। कषायें आत्मस्वभाव को कसती हैं। इनके कारण से स्थितिबन्ध एवं अनुभागबन्ध होता है, जिससे संसार की वृद्धि ही होती है। कषायें आत्मा को पतित करने वाली होने से पापरूप हैं। अतः उनका संसर्ग करने वाला आत्मा नरकादि दुःखों को प्राप्त करता है। कषायें कल्मषों का वर्धन करती हैं।

कषायवान्नो लभते सुदर्शनं।
कषायवान् ज्ञानमवैति नोज्ज्वलम् ।।
कषायवाञ्चारुचरित्रमुष्णति।
कषायवान् मुञ्चति शोभनं तपः ।।३९।।

अर्थ - कषाय से युक्त मनुष्य सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकता है, सम्यग्ज्ञान को उज्वल नहीं बना पाता है, सम्यक्चारित्र का विनाश करता है तथा शोभनीय तप का भी त्याग कर देता है।

भावार्थ - क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों से युक्त आत्मा को अपने स्वरूप का ध्यान नहीं रहता। मोक्ष और मोक्षमार्ग इन दोनों से दूरानुदूर जाते हुए जीव संसार के प्रचण्ड दुःखों को प्राप्त करता है। कषायों की ज्वालाओं में झुलसता हुआ आत्मा चारों आराधनाओं की आराधना नहीं कर पाता, क्योंकि आराधनाओं के लिए जीव को आत्मस्थ होना आवश्यक होता है और कषायों के सद्भाव में आत्मस्थता की प्राप्ति नहीं होती। आत्मस्थता के बिना सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

१- तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।
२- तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के जानने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।
३- संसार के कारणों को नष्ट करने के लिए व्रतादि का अनुष्ठान करना सम्यक्चारित्र है।
४- इच्छा का निरोध करना तप है।

ये चारों आराधनाएँ मोक्ष का कारण हैं। इन चारों आराधनाओं की प्राप्ति के लिए कषायों पर विजय करने का प्रयत्न करना चाहिये।

यतः कषायैरिह जन्मवासे।
समप्यते दुःखमनन्तपारम्।।
हिताहितं प्राप्त विचारदक्षै -
रतः कषायाः खलु वर्जनीयाः ।।४०।।

अर्थ - कषायों के कारण मनुष्य इसी संसार में अनन्तबार जन्म लेता है, अनन्त दुःखों को प्राप्त करता है। अतः हित-अहित का विचार करने वाले चतुर व्यक्तियों को कषायों को छोड़ देना चाहिये।

भावार्थ - कषाय संसार के समस्त दुःखों का एकमात्र कारण है। अतः विचारचतुर मनुष्य को कषायों का त्याग कर देना चाहिये।

इति कनककीर्तिमुनिना कषायजयभावना प्रयत्नेन ।
भव्यजनचित्तशुद्ध्यै विनयेन समासतो रचिता ।।४१।।

अर्थ - इसप्रकार कनककीर्ति मुनि के द्वारा बड़े ही प्रयत्न से भव्य जीवों की चित्तशुद्धि के लिए कषायजय-भावना ग्रंथ की संक्षेप से रचना की है।

।। इति कषायजयभावना चत्वारिंशत्समाप्तः ।।

इसप्रकार कषायजय-भावना चालीस श्लोकों में समाप्त हुई।

श्लोकानुक्रमणिका

अ

१- अभ्युत्थानविधिं २०

आ

२- आराध्यमानस्य २५

इ

३- इति कनककीर्ति ४१

४- इमे कषायाः ३८

क

५- कषायवान्नो लभते ३९

६- कोपी नाशयति २

७- कोपेन कश्चित्परं ५

८- कोपी न शेते ९

च

९- चित्तेन चिन्तयति ७

छ

१०- छिद्रावलोकन परं २३

ज

११- जातिर्मे विपुला कुलं ११

१२- जिनालयमनुत्तरं ३२

त

१३- त्यक्त्याशेषपरिग्रहा २२

द

१४- दानं न पूजां ८

१५- दुरन्तसंसार समुद्र १६

१६- दुःखं न जानाति ३६

ध

१७- धीरोऽपि चारु २४

न

१८- न तदरिरतिरुष्टः १३

१९- न तस्य माता २६

२०- न भोजयत्य १४

२१- न मानिनः केऽपि १८

२२- न मायया धर्म २७

२३- न स्वामिनं न ६

२४- नो संवृणोति ४

प

२५- पीनाकस्य कथां ३७

भ

२६- भवभयहरं शान्तं १२

२७- भारं समुद्वहन्ति ३३

२८- भ्रूभङ्गभङ्गुरित ३

य

२९- यतः कषायैरिह ४०

३०- येन कषाय चतुष्कं १

र

३१- राजा धर्मरतः २८

ल

३२- लिखति सिञ्चति ३४

३३- लोभेन रात्रौ न ३५

व

३४- वित्तार्थी नृपसेवया ३०

३५- विद्यां न कीर्ति १५

३६- विमुक्तिकान्ता १०

३७- व्याघ्री नो कुपिता २१

श

३८- शेते नित्यं त्रुटित ३१

श्र

३९- शृंगाग्रं सहसा २९

स

४०- सर्वदा कलित १९

४१- स्वबन्धुभिः सद्वचनै १७

कषाय आत्मा के वैरी हैं

क्रोध कषाय

क्रोध समस्त दुर्गुणों का सम्राट है। इससे होने वाले तात्कालिक परिणाम भी इतने भयंकर होते हैं कि उन्हें देखकर जी काँप उठता है।

क्रोध का फल बताते हुए एक कवि ने लिखा है कि -

गुस्से से तन दुर्बल बनता, लोही विषमय बन जाता।
तेज चला जाता आँखों का, ज्ञानरहित मन बन जाता।।
अकल न जाने कहाँ जाती है, ज्ञानी और गंवार की।
छोड़ो क्रोध, लोभ, मद, माया, गलियाँ नरक द्वार की।।

क्रोध अग्नि से ज्यादा दाहक, शस्त्र से ज्यादा मारक और जहर से भी ज्यादा घातक होता है। पण्डितप्रवर आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत में लिखा है कि - **क्रोध प्राणियों के अन्तरंग और बाह्य को ऐसा जलाता है कि उसका कोई प्रतीकार नहीं है। अतः क्रोध कोई एक अपूर्व अग्नि है। बुद्धिमानों की भी चक्षु सम्बन्धी और मानसिक दोनों ही दृष्टियों का एकसाथ उपघात करने से क्रोध कोई एक अपूर्व अन्धकार है। जन्म-जन्मान्तरों में निर्लज्ज होकर अनिष्टों का करने वाला होने से क्रोध कोई एक अपूर्व ग्रह या भूत है। उस क्रोध का विनाश करने के लिए उस क्षमारूपी देवी की आराधना करनी चाहिये जो जिनागम के अर्थ और ज्ञान के उल्लास का कारण है।**

किसी भी विपरीत प्रसंग के उपस्थित होने पर क्रोध न करने के क्षणिक उपाय निम्नलिखित हैं -

१ - क्रोधियों की संगति नहीं करनी चाहिये।

२ - क्रोध का प्रसंग आने पर मौन धारण कर लेवें। अगर मौन रखना संभव नहीं हो तो उस स्थान से दूर चले जाना चाहिये।

३ - एक से सौ तक गिनती करने लग जाना चाहिये।

४ - ठंडा पानी पी लेना चाहिये।

क्रोध के स्थायी शमन के लिए चिन्तन की धारा बदलनी अत्यावश्यक है। जैसे कि -

१ - कोई व्यक्ति हमारे प्रत्यक्ष या परोक्ष में निन्दा कर रहा है, तब ऐसा विचार करना चाहिये कि निन्दाविषयक बात सच्ची है या झूठी है ? यदि बात सत्य है तो मुझे उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये अपितु उसका उपकार मानना चाहिये क्योंकि मैं उसके प्रसाद से अपना सुधार कर पा रहा हूँ। यदि झूठी निन्दा कर रहा है तो फिर सांच को आंच क्या है ? मुझे तो क्रोध करने की आवश्यकता ही नहीं रही।

२ - कोई व्यक्ति हमें कष्ट दे रहा है, तब ऐसा विचार करना चाहिये कि मेरे अशुभ कर्म के फल से ही मैं इन कष्टों को प्राप्त कर रहा हूँ। कष्ट देने वाला जीव तो निमित्तमात्र है।

३ - कोई व्यक्ति हमारी उचित बात भी नहीं मान रहा हो तो ऐसा विचार करना चाहिये कि संभवतः मेरी बात सामने वाला ठीक से न समझ पा रहा होगा अथवा मेरी शैली में कोई खोट है, जिसके कारण मेरी सत्य बात मानी नहीं जा रही है।

४ - कभी-कभी किसी जड़ पदार्थ के कारण भी क्रोध आ जाता है। उससमय ऐसा विचार करना चाहिये कि यह तो जड़ पदार्थ है। इसमें तो चेतना है नहीं। मैं यदि इसपर क्रोध करूंगा तो मेरी ही हानि होगी।

विपरीत परिस्थिति में उक्तप्रकार से चिन्तन करने पर क्रोध आना कम हो जाता है।

मान कषाय

आचार्यों ने क्रोध को खारा जहर कहा है जबकि मान को मीठा। अपने तुच्छ उपलब्धि पर दूसरों को अपने से हीन समझने का भाव मान कषाय कहलाता है। मान का अर्थ है सफलता की प्राप्ति पर मन में उभरता हुआ ज्वर, मैं-मैं का आग्रह, दूसरों में विद्यमान रहने वाले गुणों की अवहेलना करने वाली वृत्ति, अपने आप को परिपूर्ण मानने की मूढ़ता, सच्चाई से आँख मूँदने की आदत अथवा मन की मृदुता का विनाश करने वाली शक्ति। इस कषाय के कारण मनुष्य के मन में दूसरों के प्रति तिरस्कार की

अथवा दूसरों को नीचा दिखाने की भावना उत्पन्न होती है। मान से ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि बुराइयाँ धीरे-धीरे बढ़ती रहती है, जिसके फल से दुःख भी बढ़ता जाता है।

कर्तव्य और अकर्तव्य के ज्ञान को विवेक कहते हैं। अहंकार विवेक को ठीक उसीतरह ग्रस लेता है, जैसे अस्ताचल सूर्य को ग्रस लेता है। सूर्यास्त के उपरान्त अन्धकार के प्रसारित होने पर तमचर विचरण करते हैं, पाप करने वाले चोर एवं व्यभिचारी जीव स्वच्छन्द होकर अपना कर्म करते हैं तथा मनुष्य को समीचीन मार्ग नहीं सूझता। उसीतरह जब मनुष्य के विवेक को अहंकार ग्रसित कर लेता है, तब मनुष्य में मोहान्धकार बढ़ जाता है। मनुष्य की मति मारी जाती है। यही कारण है कि अहंकार मनुष्य को कुमार्गगामी बनाता है। अहंकार के उदय में मनुष्य ऐसे अनिर्वचनीय पाप का बन्ध करता है, जिसके उदय के अधीन होकर चिरकाल तक नीच गति में होने वाले अपमानरूपी ज्वर के वेग को भोगना पड़ता है।

जैसे विषवल्लिका अपने समीपस्थ पौधों का जीवन नष्ट कर देती है, उसीप्रकार मान जीवन की समृद्धि, सौन्दर्य को देखने वाली दृष्टि, प्रेम के विस्तार की ललक, कुछ नवीन सीखने की पात्रता और सर्वजीवमैत्री की भावना का गला घोंट देती है। मान का वमन करने के लिए साधक को प्रतिसमय अपने मन में विचार करना चाहिये कि -

१ - जो वैभव भौतिक सुख का कारण है, वह विनश्वर है।

२ - उच्च कुल, प्रतिष्ठा, बल, धन आदि की प्राप्ति का कारण पूर्वकृत शुभकर्म है। कर्मोदय सदैव एक-सा नहीं रहता।

३ - मेरा ज्ञान केवलज्ञानरूपी विशाल मेरु पर्वत के समक्ष एक तिल के बराबर भी नहीं है।

४ - यदि मैं अनुकूल परिस्थितियों में मान करूंगा तो प्रतिकूल परिस्थिति आने पर मुझे दुःख का अनुभव अधिक होगा।

धन तथा ज्ञानादिक का मद नष्ट करने का सरलतम उपाय यह है कि मनुष्य अपने से अधिक धनी या ज्ञानी को देखता रहे। सज्जनों की संगति अथवा पूज्य पुरुषों की विनय भी मानकषाय का हरण करती है।

माया कषाय

छल, कपट, प्रवंचना आदि माया के ही पर्यायवाची नाम हैं। अपने हृदय के विचारों को छिपाने की जो चेष्टा की जाती है, उसे माया कहते हैं।

भविष्य में होने वाली हानियों का विचार न करने से, मायाकषाय के उदय से, बाह्यवस्तुओं की अत्यधिक आसक्ति से, धन कमाने की आकांक्षा से, कर्मफल या परलोक के प्रति मन में अज्ञान होने से, मान प्राप्त करने की इच्छा से, पूर्व संस्कारों से अथवा दूसरों को गुमराह करने की भावना से मनुष्य मायाकषाय को अपनाता है। यही कारण है कि माया चोरी, ठगी और दगा आदि असत् प्रवृत्तियों को उत्पन्न करती है।

भगवती आराधना में माया के निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकुंचन ये पाँच भेद हैं। धन के विषय में अथवा किसी कार्य के विषय में जिसको अभिलाषा उत्पन्न हुई है, ऐसे मनुष्य का जो फँसाने का चातुर्य उसे निकृति कहते हैं। अच्छे परिणाम को ढँककर धर्मादि के निमित्त से चोरी आदि कार्य करने को उपधि कहते हैं। किसी के धरोहर का कुछ भाग हरण कर लेना, धन के विषय में असत्य बोलना, किसी को दूषण लगाना अथवा झूठी प्रशंसा करना सातिप्रयोग माया है। हीनाधिक कीमत की वस्तुओं को आपस में मिलाना, तोल और माप के साधनों को कम-ज्यादा रखकर लेन-देन करना आदि कार्य प्रणिधि माया कहलाते हैं। आचार्य अथवा गुरु के समक्ष दोषों की आलोचना करते समय अपने दोषों को छिपाने की प्रवृत्ति प्रतिकुंचन माया कहलाती है।

माया दुर्भाग्य की माता है, दुर्गति का मार्ग है और अविद्या की जन्मभूमि है। माया के पदार्पण करते ही बुद्धि विनष्ट हो जाती है। मनुष्य निःसंकोच होकर पापकार्यों को करने लगता है। मोक्षमार्ग शान्ति का मार्ग है। जहाँ कपट है, वहाँ शान्ति कहाँ ? माया विभाव परिणति है। उसके द्वारा स्वभाव आवृत्त हो जाता है। जिसका स्वभाव आवृत्त हो चुका है, वह जीव केवल दुःखों को ही प्राप्त करता है।

जैसे मन्दिर में चढ़ाया गया द्रव्य पुनः ग्रहण करने हेतु निःसार है, उसीप्रकार मायाचार के द्वारा किया गया तप, धर्म और व्रतादिकों का

अनुष्ठान निष्फल है। माया अनर्थों का बीज है।

मायारूपी पिशाचनी से बचने के लिए साधक को सदैव ऐसा विचार करना चाहिये कि -

१ - व्यवहार में दूसरों को ठगना, निश्चय से अपने-आप को ठगना है।

२ - छिपकर किये जाने वाले पापों को सर्वज्ञप्रभु देखते हैं। छिपकर किये गये पापों से तिर्यंचगति में जाना पड़ता है।

३ - सरलता और सच्चाई ही जीवन का सार है।

प्रतिदिन रात्रि में सोने से पूर्व मनुष्य को अपनी दिनभर की प्रवृत्तियों का निरीक्षण कर लेना चाहिये तथा दिनभर में हुए छल-कपट के कार्यों की निन्दा और गर्हा करके पुनः उस कार्यों को नहीं करने का संकल्प करना चाहिये ताकि मायाकषाय से छुटकारा मिल सके।

लोभ कषाय

परद्रव्य को पाने की अभिलाषा लोभ है। इन्ही आकांक्षाओं की विभीषिका में यह जीव रात-दिन जल रहा है। वह कुछ और पाने की आस करता हुआ दुःखी रहने का मानों आदी ही हो गया है। जीवनलोभ, आरोग्यलोभ, इन्द्रियलोभ और उपभोगलोभ इन चार विभागों में विभाजित हुआ यह परम शत्रु जीवों को तीव्रतर कष्ट देने के लिए प्रतिपल तैयार बैठा है। यह लोभ सम्पूर्ण गुणों का नाशक है।

वेदव्यास ने लिखा है-

भूमिष्ठोऽपि रथस्थांस्तान् पार्थः सर्वधनुर्धरान् ।
एकोऽपि पातयामास लोभः सर्वगुणानिव ।।

अर्थात् - भूमि पर खड़े हुए अकेले अर्जुन ने रथ में बैठे हुए सभी धनुर्धारियों को उसीतरह मार गिराया, जैसे लोभ सभी गुणों को नष्ट कर देता है।

लोभ शब्द को प्राकृत भाषा में लोह कहते हैं। लोह के संसर्ग से अग्नि और लोभ के संसर्ग से आत्मा कैसे दुःखी होता है ? इस बात को बताते हुए आचार्य श्री योगीन्दुदेव लिखते हैं -

तलि अहिरणि वरि घणवडणु संडस्सय लुंचोडु।
लोहहँ लग्गिवि हुयवहहँ पिक्खु पडंतउ तोडु।।

(परमात्मप्रकाश - २/११४)

अर्थात् - जैसे लोहे का सम्बन्ध पाकर अग्नि नीचे रखे हुए निहाई के ऊपर घन की चोट, संडासी से खेंचना, चोट लगने से टूटना इत्यादि दुःखों को सहन करती है, ऐसा देख।

इस दोहे की टीका करते समय आचार्य श्री ब्रह्मदेव ने लिखा है - **यथा लोहपिण्डसंसर्गादग्निरज्ञानिलोकपूज्या प्रसिद्धा पिट्टनक्रियां लभते तथा लोभादिकषायपरिणतिकारणभूतेन पंचेन्द्रियशरीर सम्बन्धेन निर्लोभपरमात्मतत्त्वभावनारहितोजीवो घनघातस्थानियानि नारकादि दुःखानि बहुकालं सहत इति।**

अर्थात् - लोहे की संगति से लोकप्रसिद्ध देवता अग्नि दुःख भोगती है। यदि वह लोहे का संग न करे तो इतने दुःख क्यों भोगे ? उसीतरह लोह अर्थात् लोभ के कारण से परमात्मतत्त्व की भावना से रहित मिथ्यादृष्टि जीव घनघात के समान नरकादि दुःखों को बहुत काल तक भोगता है।

पानी की प्यास तो पानी पीने पर कम पड़ती है, परन्तु आकांक्षाओं की प्यास कभी नहीं बुझती। ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। परपदार्थों को सुख का कारण मानने से, आध्यात्मिक विचारों के चिन्तन के अभाव से अथवा मोहनीय कर्म के उदय से लोभ कषाय जागृत होती है।

लोभ कषाय पर विजय प्राप्त करने के लिए -

१- बारह भावनाओं का चिन्तन करें।

२- अपने से कम वैभव वाले लोगों को देखें।

३- सतत ऐसा विचार करें कि - मैं जब जन्मा था तब मैं कुछ लेकर नहीं आया था और मैं मर जाऊंगा तब भी मैं कुछ नहीं ले जा पाऊंगा। फिर मैं लोभ क्यों करूं ? जब मेरा अल्प आरंभ और परिग्रह से काम चल सकता है, तो मैं अधिक की चाहना से संक्लेशित क्यों होऊं ?

कषायों से भयभीत आत्मा को कषायों का स्वरूप और फल जानकर उनका त्याग करना ही चाहिये।

ग्रंथमाला के उपलब्ध प्रकाशन

टीकाग्रंथ

१- रत्नमाला	२५ रु.
२- प्रमाणप्रमेयकलिका	२१ रु.
३- संबोह पंचासिया	१२ रु.
४- दव्वसंगह	३० रु.
५- वैराग्यसार	१५ रु.
६- कषायजय-भावना	१० रु.

विधान साहित्य

१- कल्याणमन्दिर विधान	१७ रु.
२- भक्तामर विधान	१८ रु.
३- रविव्रत विधान	१३ रु.
४- रोटतीज व्रत विधान	११ रु.
५- जिनगुणसंपत्ति व्रत विधान	१८ रु.
६- श्रुतस्कंध विधान	१५ रु.

प्रवचन साहित्य

१- धर्म और संस्कृति	५ रु.
२- कैद में फँसी है आत्मा	६ रु.
३- ए बे-लगाम के घोड़े ! सावधान	७५ रु.

क्रीडा साहित्य

१- आध्यात्मिक क्रीड़ालय	३५ रु.
२- ज्ञाननिधि क्रीड़ालय	३५ रु.

मुक्तक साहित्य

१-सुविधि मुक्तक मणिमाला (भाग-१)	५ रु.